Chapter-1

प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि

परिवेश और परिस्थितियां

हृदय की रागात्मक संवेदनाओं की गेय अभिव्यक्ति को 'गीत' कहा जाता है । गीत का स्वर अन्तस् से उद्भूत होता है और उसका विषय जीवन्त अनुभूतियों से । अन्तर्वेदना, अन्तर्सौख्य तथा अन्तरिक मानसिक संतुष्टि का वाहक यह गीत ही है जो रचनाकार की भाव-प्रवणता को उजागर करता है ।

'अमरकोश' में 'गीत' और 'गान' को समानार्थक माना गया है । गान के सम्बन्ध में धारणा है कि स्वयम्भू शिव ने रागरागांगभाषांगक्रियांगोपांग सहित गान विद्या का सर्जन किया और नारद को सिखलाया । नारद के द्वारा यह विद्या पृथ्वी पर पर उतरी - 'तदेतन्नारदादिभ्यो दत्तमादौ स्वयम्भुवा । नारदेन ततो गानं पृथिव्यामवतरितम ।' गान का बड़ा व्यापक प्रभाव दिखलाया गया है और कहा गया है कि सभी की सभी चित्तवृत्तियां 'गान' में विलीन हो जाती हैं । 'गीत' का कर्तृरूप 'गान' है । गीत का सम्बन्ध जहां रचना-विशेष से है, वही 'गान' गेयता की पद्धति से सम्बद्ध है । गाने की पद्धति का सम्बन्ध 'रस' से है । श्रृंगार और हास्य रसों में 'मध्यम' और 'पंचम', वीर, रौद्र और अद्‌भुत रसों में 'षड्ज' तथा 'ऋषभ', करुण रस में 'गान्धार' व 'विषाद' तथा वीभत्स और भयानक रसों में 'धैवत' समीचीन हैं । गान-पद्धति के अनेक विधि-निषेध हैं । 'मुख-विकृति' को गान-क्रिया का दोष माना गया है ।

मीमांसा के मतानुसार, सामवेद में सहस्त्र प्रकार के गीतों के साधन हैं । गायक इच्छानुसार किसी एक का अवलम्बन कर सकता है । गीत के दो भेद बताये गये हैं - 'वैदिक' और 'लौकिक' । वैदिक गीतों की चर्चा 'गेयपद' के अन्तर्गत हुई है । शास्त्रीयता के आधार पर लौकिक गीत के भी दो विभेद हैं - मार्ग व देशज । 'मार्ग के अन्तर्गत शास्त्र निरुपित परम्परा का निर्वाह होता है, जिसके

लिए नाट्यशास्त्र कर्ता भरत मुनि को भी प्रमाण माना गया है । 'भगवान शंकर उसके आद्याचार्य हैं, अतः उनके प्रीत्यर्थ इसका विधान है ।'[1] विभिन्न भू-भागों के निवासियों की रूचि और रीति के विभेद से गीत के रूपों की भिन्न-भिन्न परिणतियाँ है और इनकी संज्ञा देशी है । साहित्य में जिसे 'गीत' कहते हैं, उसका सम्बन्ध विशेषतः इसी 'देशी' विभेद से है । गायकों द्वारा मान्य पदों की स्वीकृति साहित्यिक तत्वों के कारण नहीं, बल्कि संगीत-तत्व के कारण है । लोकगीतों का प्रस्फुटित रूप ही 'साहित्यिक गीत' है और साहित्य में यह 'गीतिकाव्य' का प्रारम्भिक रूप तथा अब उसके प्रथम भेद के रूप में जाना जाता है ।

गेय पदों में जहां शास्त्रीय संगीत के विधान को काव्य की समकक्षता प्राप्त है, वहां गीतों में देशी संगीत-पद्धति का नियमन रहता है । लौकिक कथ्य-संगीत का यह साहित्यिक अभियान है । प्रारम्भिक गीत लौकिक जीवन सम्बन्धी थे, जिस विधान का उपयोग धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए किया गया । सन्तकाव्य की अधिकांश गीतात्मक रचनाएं इसी कोटि की हैं ।

कई व्यक्ति जब समूह बनाकर गाते हैं तो यह 'समवेत गीत' कहा जाता है । उपरूपकों में कई एक ऐसे हैं जो समवेत गीत के विकसित और अभिनयात्मक रूप हैं । ''नाट्य रास में 'नाट्य' की प्रधानता तो है किन्तु 'समवेत गान' का रूप मिलता है । हल्लीश के समवेत गीत का अभिनयात्मक रूप स्पष्ट है । 'चर्चरी' और बेलि' समवेत गीत के ही रूप हैं ।''[2]

मानव जीवन में गीत अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रयुक्त होते रहे हैं । नाट्यशास्त्र में भी गीतों की चर्चा और प्रयोग प्राप्त होते हैं । 'गीति काव्य' गीत शैली का नव्यतम विकसित रूप है । गीत और गीतिकाव्य का विकास लोकगीतों से हुआ है । जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' के गीतों को इसका आदि स्त्रोत मानने का भ्रम होता रहा है । बौद्धों ने लोकभाषा को अधिक मान्य ठहराया था, यद्यपि संस्कृत में लिखे गये बौद्ध साहित्य का भी अभाव नहीं है । सिद्धों ने लोकभाषाओं को अपने गीतों का आधार बनाया; उनके 'चर्यागीत' लोकगीतों के उपदेशात्मक अभियान हैं । महा-महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने गीतों को प्राचीनतम बंगला-रचना का आदर्श और उदाहरण माना है किन्तु आधुनिक शोधकों ने इसकी असत्यता सिद्ध कर दी है । प्रारम्भ में गीत की सृष्टि लोक के समवेत रागों से समन्वित थी । संसार की प्रायः अधिकांश भाषाओं का काव्य सर्वप्रथम लोककाव्य के रूप में प्रस्फुटित हुआ । वैयक्तिक अनुभूतियां जब सास्वत परिवेश में सहज होकर सामाजीकरण की उदात्त अवस्था पर आकर प्रतिष्ठित होती हैं तो वे लोकानुभूति की संज्ञा से समादृत होती हैं । व्यक्ति-भावों का यह साधारणीकरण ही रागात्मक गीतों का जनक बन जाता है । अतः मानव-संस्कृति की भावाकुल रागात्मक अभिव्यक्ति ही 'गीत' के नाम से अभिहित हुई है ।

लोकगीतों में इस गीत परम्परा का मूल उद्‌गम स्रोत माना गया है । अधिकतर ये गीत साधारण और सरल ग्राम्य जीवन की या सामाजिक रीतियों की व्याख्या करते हैं । सामाजिक परिवेश में जन्मे गीतों में ढोलक के गीत, नाईन के गीत, बधाई के गीत, जन्मदिन के गीत, छठी नहान के गीत, सोहर गीत, कजली गीत, बाल-संस्कार के गीत, सगाई-व्याह के गीत, पुत्रजन्म के गीत, दाम्पत्य सौख्य-संयोग के गीत, मान-मनावन के गीत तथा वियोग या विप्रलम्भ गीत आदि प्रमुख हैं । अन्य संस्कार

के गीतों में झूला, पनघट, वन विहार, साझी, टेसू, झांकी, नौटंकी, स्वांग, भगत आदि के गीत भी समाहित हैं। इस प्रकार गीतों का अपना एक विशिष्ट और विस्तृत क्षेत्र निर्धारित किया गया है।

पदों को राग-रागिनियों के अन्तर्गत वर्गीकृत करने की परम्परा सिद्धकाल से भी प्राचीन मानी जाती है। क्योंकि उसकाल के गीत इसी तरह वर्गीकृत प्रतीत होते हैं। यह परम्परा बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक तक किसी-न-किसी रूप में प्रचलित रही। इस स्थिति से स्पष्ट हो जाता है कि गीतों का सम्बन्ध शास्त्रीय संगीत से बना रहता है। यद्यपि संगीत-तत्व अविच्छिन्न रहा किन्तु वह क्रमशः गौण होता गया और काव्यत्व की मात्रा उसी अनुपात में बढ़ती गई। अतः 'गीत' 'गीतिकाव्य' होते गये। गेय पदों में 'संगीत-तत्व' प्रधान है। 'गीत' में काव्यत्य और संगीत की शास्त्रीयता का संतुलन तथा गीतिकाव्य में संगीत-तत्व से काव्योत्कर्ष को अधिक प्रधानता मिलने लगता है। 'साकेत' का नवम् सर्ग गीतात्मक है। कामायनी के अनेक अंश स्वतंत्र गीतिकाव्य हैं और 'प्रेम-पथिक' में कथात्मक गीत-आवेश है।

प्रारम्भ में संगीतकार और गीतकार एक ही व्यक्ति होता था, इसलिए गीतों में भी काव्य-तत्व की प्रधानता थी। कवि ने अनुभव किया कि उसकी रचनाओं के लिए वाद्य-यन्त्रों की अपेक्षा अनिवार्य नहीं है, क्योंकि उसके शब्दों में संगीत-तत्व का मूल निहित है; अतः गेय पद 'गीत' हुए।

अबाध कल्पना, असीम भावुकता, विशुद्ध भावात्मकता, कर्म-कोलाहल की चिन्ता से मुक्त विचारधारा अथवा निष्कर्षोपलब्धि के भार से मुक्त भावधारा गीतिकाव्य के प्रकृत विषय हैं। इसमें सिद्धान्तीकरण का अवकाश नहीं। विचार को भी गीति में भावात्मक माध्यम ग्रहण करना पड़ता है। भावात्मक स्थिति, क्षणस्थायिनी होती है, अतः 'संक्षिप्तता' गीति काव्य का प्राण है। "कवि की वैयक्तिक भावधारा और अनुभूति को उनके अनुरूप लयात्मक अभिव्यक्ति देने के विधान को 'गीतिकाव्य' कहते हैं।"[३] 'गीत' उन पूर्ण व समग्र क्षणों की वाणी है जिनकी स्थिति में वे क्षण ही पूर्ण और समग्र जीवन प्रतीत होते हैं। अभिव्यक्ति की सार्थकता इसमें है कि, वह उन समग्र क्षणों की समग्रता को अखण्डित करने और प्रभावान्विति अभिनिवेश देने का प्रयास करती है। कला की कृतिमता भी इतनी सहज और नैसर्गिक रहती है कि उसमें सहजता का ही बोध सम्भव होता है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य उल्लेखनीय और स्मरणीय है कि केवल आत्मनिष्ठता और वैयक्तिकता ही गीतिकाव्य के लिए पर्याप्त कसौटी नहीं है। गीतिकाव्य के लिए गीतिकाव्यात्मक अनुभूति और भावना की अपेक्षा है, जो गीतिकाव्यात्मक विधान के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं। एक विचार, एक अमिश्र अनुभूति और भावना अथवा एक संक्षिप्त स्थिति की संगीतात्मक एवं भावाविष्ट अभिव्यक्ति गीतों में होती है। छन्दों में संगीत-तत्व है, किन्तु छन्दों के अन्तर्निहित संगीत से परिपुष्ट भावात्मक संगीतात्मकता से मण्डित गीत-काव्य में महत्व की अखण्डता रहती है, यद्यपि तुकान्तहीन, छन्दविमुक्त गीत-काव्य की कुछ रचनाएं वर्तमान में अविर्भूत हुई हैं। गीतों में मानवीय मनोवृत्तियाँ अपनी सहज एवं स्वाभाविक स्थिति में अभिव्यक्त होती हैं। अतः उसमें आन्तरिक सौन्दर्य-गठन और अन्तर्वेग की तरलता रहती है। "बौद्धिकता की भावात्मक परिणति से भिन्न पाण्डित्य का बोझ गीत के लिए असह्य होता है। इसे अन्तर की आकुलता और वेदना की आर्द्रता से सिंचित करना पड़ता है। सहज ही वशीकृत होने वाली यह परिणीता नहीं है।"[४]

'गीत' मानव जाति का प्राचीनतम काव्य-रूप है । मनुष्य जाति ने जब सभ्यता-विकास के प्रथम सोपान पर चरण रखा, उसी समय सामूहिक नृत्य-गीत के रूप में गीत और नृत्य दोनों का एक ही साथ प्रारम्भ हुआ था । उस काल के सामुदायिक जीवन की भावनात्मक और आत्माभिव्यंजक अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन 'नृत्यगीत' ही था । आदिम मानव शिकार के उपरान्त एक साथ मिलकर नृत्य तथा समवेत गायन करता था । इस तरह नृत्य और गीत का तत्कालीन स्वरूप अविभाज्य था । ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया, त्यों-त्यों सामूहिक नृत्य-गीत से उसके कई तत्व अलग होकर स्वतन्त्र कलाओं के रूप में विकसित होते गये । इस प्रकार प्राचीन सामूहिक नृत्यगीत से ही नृत्य कला, संगीत-कला, काव्य और नाटक का उद्भव एवं विकास हुआ । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य की प्रारम्भिक विधा 'गीत' ही था । क्रमशः गीत से ही काव्य की अन्य विधाएं भी विकसित होती गईं और अपनी अलग-अलग पहचान के साथ प्रतिष्ठापित हो गईं ।

'गीत' विधा में कवि अपने मन की भावनाओं, सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों, वैयक्तिक जीवन की विभिन्न स्थितियों का प्रकाशन स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता था । इस विधा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसे समाज के लोगों द्वारा वंश-परम्परागत रूप में कण्ठस्थ करके गाया जाता था और आज भी प्रयोगशील है । इस तरह लोकगीतों और साहित्यिक गीतों की परम्परा लोककण्ठ में ही हजारों वर्षों तक जीवित रहा करती थी । किसी अन्य साहित्यिक विधा में गीत-विधा के समान अक्षुण्ण जीवनी शक्ति नहीं थी । अतः यह अचम्भे की बात नहीं है कि आज के इस वैज्ञानिक युग में मुद्रण, प्रकाशन और दूर-संचार के व्यापक साधनों के उपलब्ध होने पर भी मनुष्य जाति केवल 'गीत' को ही आज भी स्मृतियों में सुरक्षित रख कर कण्ठ परम्परा में जीवित रख सकी है । लोकगीत हो या फिल्मी गीत, मध्यकालीन भक्त कवियों के गीत हों अथवा आधुनिक रूमानीकवियों के प्रेमगीत; सर्वप्रमुख गुण 'गेयता' के कारण ये सभी लोक जीवन में परिव्याप्त दिखाई पड़ते हैं । साहित्य की यदि कोई विधा लोक-मानस में गहराई तक रची-बसी है और लोकजीवन से अत्यधिक सम्पृक्त है तो वह 'गीत' ही है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य में जब तक गीत गाने-गुनगुनाने की प्रवृत्ति वर्तमान रहेगी, तब तक लोकजीवन में गीत-काव्य का महत्वपूर्ण स्थान बना रहेगा । "जो लोग यह फतवा देते हैं कि आधुनिक वैज्ञानिक और औद्योगिक युग में गीत विधा मृतप्राय है, वे सामाजिक मनोविज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ हैं । उन्हें यह पता नहीं है कि, हंसना और गाना पशुओं का नहीं, मनुष्य का नैसर्गिक गुण है और गाने के लिए गीत की ही आवश्यकता होती है, चाहे वह सांगीतिक गीत हो अथवा साहित्यिक गीत, लोकगीत हो अथवा फिल्मी गीत । अतः गीत तब तक जीवित रहेगा, जब तक मनुष्य जाति जीवित रहेगी ।"[५]

गीतिकाव्य की उत्पत्ति तभी होती है जब भावों के आवेश से प्रेरित होकर निजी उद्‌गारों को काव्योचित भाषा में प्रकट किया जाता है । व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसकी आन्तरिक अनुभूतियों तथा भावों को सजीव भाषा में साक्षात् कराने की क्षमता ही गीतिकाव्य की विशिष्टता है । व्यक्तिगत भावों और अनुभूतियों की तीव्रता उसमें रागात्मकता का समावेश कर देती है । गीतिकाव्य की इन्हीं विशेषताओं को लक्ष्य कर महादेवी वर्मा ने गीति-काव्य का विवेचन करते हुए लिखा है -"सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था, विशेषकर गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीति है ।"[६] अतः

गीतिकाव्य की तीन प्रधान विशिष्टताएं हुईं- अपनेपन की अनुभूति, रागात्मकता और अनुभूति की प्रधानता। अर्थात् गेयत्व, स्वानुभूति का भाव और कोमल भावों की सघनता गीति-काव्य के प्रतिपाद्य हैं ।

'गीत' की आभ्यन्तर विशेषता इस बात में है कि उसके भीतर आत्मा की अपनी निजी अनुभूति सघन रूप में प्रगट हो; वर्णन चाहे किसी वस्तु का हो, पर गीत के भीतर आकर वह वस्तु का कल्पनागत वर्णन न रहकर कवि की अपनी अनुभूति के भीतर आया हुआ वर्णन हो जाता है । उसके भीतर कवि की आत्मा और भावनाएं ही प्रतिबिम्बित होती हुई मिलेंगी । इस आधार पर 'आत्मानुभूति' को गीतकाव्य का प्रमुख लक्षण माना जा सकता है । इस आत्मानुभूति के अन्तर्गत कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन उसकी सामाजिक व सांस्कृतिक विशेषताओं का आधार अवश्य ग्रहण करता है; परन्तु वह आधार अलक्ष्य ही रहता है । कवि की सफ़ल उद्भावनाएं सहृदय पाठकों की अनुभूतियों और प्रेरणाओं को उकसाती हैं । कवि की पावन, शुद्ध पारदर्शी दृष्टि, वस्तु के भीतर कुछ ऐसे रहस्यपूर्ण और गुप्त तथ्यों के दर्शन करती है जो हमारे लिए नया होकर भी सत्य और तथ्यपूर्ण हैं । यह कवि की सूझ है, उसकी अन्वेषक शक्ति है, उसकी पवित्र, व्यापक अनुभूति है और उसको साथ लेकर चलने वाली सूक्ष्म कल्पना है, जो वर्णन को इतना अपना लेती है कि वस्तु अपनी हृदय-संगिनी हो जाती है और अपनाव के साथ-साथ हमारी असंख्य भावनाएं उससे तारतम्य स्थापित कर ऐसी जाग उठती हैं कि फिर उनको सुसुप्त करना कठिन हो जाता है । वे अन्तस में जाकर एक प्रेरणा भरती हैं और तब हम समझते हैं कि कवि इतना प्रतिभासम्पन्न और अन्तर्दशी है । इस प्रकार आत्मानुभूति गीत-काव्य की आभ्यन्तर विशेषता सिद्ध होती है ।

गीत की बाह्य विशेषताएं - रागात्मकता, वैयक्तिकता और कोमल भावों की सघनता भी स्वानुभूति पर ही अवलम्बित हैं । अनुभूति की तीव्रता कवि को गाने के लिए प्रेरित करती है और वह स्वाभाविक रूप से गा उठता है । अतः गीत की गेयता भी स्वतः सिद्ध है । गीत की स्वर लहरियां बार-बार हृदय में जाकर अनुभूति पर प्रभाव डालती है । स्वर की दीर्घता और संक्षिप्तता अनुभूतियों को उकसाती हैं, उसकी कोमलता कानों को मधुर लगती है और संवादन, कल्पना को सजग और विकसित कर देता है । इस प्रकार गीत की 'गेयता' उसका अनिवार्य गुण है । "रागात्मक सम्बन्धों की सर्वाधिक सशक्त भाषा 'गीत' है । गीत के माध्यम से संवेद्य भावनाएं एक हृदय से दूसरे हृदय तक सहजता एवं सरलता से विनिमय होती हैं । इसी संभावना के आधार पर कहा जा सकता है कि संसार में मानव-सभ्यता के इतिहास में जब से प्रेम व स्नेह का सूत्रपात हुआ, तब से भाषा में गीत का प्रादुर्भाव हुआ होगा । इस प्रकार गीत रागात्मक भावों की सशक्त अभिव्यक्ति मानी गई है ।"[७]

गीत का सम्बन्ध हृदय से है, अतएव उसका अन्तरंग अथवा वस्तुतत्व हृदय के अनुरूप ही कोमल, सरस और भावनापूर्ण होना चाहिए । उसका प्रकरण सुन्दर, मनोहर तथा संक्षिप्त होने पर ही प्रभावोत्पादक बनता है । भावना की सुकुमारता के साथ-साथ भाषा भी सरल, मधुर और व्यंजक होनी चाहिए । उसमें कल्पना का नवीन और उन्मुक्त होना भी आवश्यक है । भावों की अभिव्यक्ति तीव्रतम होनी चाहिए, जिससे उसका प्रभाव अधिकाधिक पड़े । साथ ही भाव-विच्छिन्न और अस्पष्ट न हो । सुकुमारता की रक्षा के लिए संगीत का प्राधान्य तथा कोमल रसों का समावेश होना अधिक आवश्यक है । इसीलिए शान्त, श्रृंगार और वात्सल्य गीतिकाव्य के प्रिय रस रहे हैं । गीतकाव्य का सम्बन्ध कोमल

भावों से माना गया है । जब हृदय में कोमल भाव उमड़ते हैं तभी कविकण्ठ से संगीत मुखारित होने लगता है । वह गुनगुनाने लगता है । परुष-भाव के आवेग के समय वह नहीं गुनगुनाता । कोमल भाव हृदय को द्रवित कर देते हैं । और उनका आवेग भावों को घनीभूत बना देता है । इसी कारण गीत में कोमल भावों की सघनता होती है । कवि आद्यन्त एक ही भाव के मन्त्रजाल में आबद्ध रहता है। इसीकारण गीत में आद्योपान्त भाव की एकता बनी रहती है । संगीत से पूर्ण भाव-अभिव्यक्ति, अन्तःजगत का चित्रण, प्रकरण अथवा भावना की सुन्दरता और व्यंजकता, शब्दों का मधुर चयन, भाषा का भावना से सामञ्जस्य, साक्षात प्रभाव और संक्षिप्तता जैसी विशेषताओं के आधार पर गीत की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है - "कविता की मुख्य प्रेरणा- 'आत्मानुभूति' जब मधुर शब्दों द्वारा स्वाभाविक गीतिमय और गेय स्वर लहरीयों में तीव्रता के साथ प्रकट होती है तो वह 'गीत' अथवा 'गीति' कहलाती है।"

वास्तव में नवीनता पुरानेपन की तुलना में ही दिखाई पड़ती है । प्रत्येक काल में 'गीत-काव्य' की एक ऐसी धारा प्रवाहमान रहती है तो पूर्ववर्ती पारम्परिक धारा से अलग होती है । भक्तिकालीन लोकगीतों से प्रभावित लोकधुनों पर आधारित एवं लोकजीवन के परिदृश्यों से संयोजित सन्त कवियों के अधिकांश गीत ऐसे ही थे । अतः वे अन्य बाद के भक्त कवियों के पद-गीतों की तुलना में नयापन और ताजगी लिये हुए थे । इस कारण यदि उन्हें 'भक्तिकालीन नवगीत' कहा जाय तो अनुचित न होगा । जब काव्य शिष्ट समाज की अभिरूचियों, परम्पराओं एवं शास्त्रीय नियमों में बंधकर घिसा-पिटा और बासी हो जाता है, तो प्रातिभ कवि लोक-काव्यों के अनेक तत्वों को अपनाकर कविता को लोकजीवन से जोड़ते हैं । गीतकाव्य में यह तथ्य सर्वाधिक दिखाई पड़ता है । इस प्रक्रिया में गीत-विधा का एक सीमा तक कायाकल्प हो जाता है । इस प्रकार के गीत प्राचीन पारम्परिक गीतों की तुलना में नवगीत होते हैं ।

आधुनिक युग का प्रारम्भ होने के साथ ही हिन्दी में पारम्परिक गीत-काव्य का नवीनीकरण प्रारम्भ हो गया था । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उनके साथ के अन्य रचनाकारों, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पंडित प्रताप नारायण मिश्र आदि ने मध्यकालीन पद-गीतों की शैली एवम् विषय-वस्तु का परित्याग कर लोकगीतों के तर्ज पर कजली बिरहा, होली, चैती आदि की रचनाएं की । तदनन्तर श्रीधर पाठक ने लोकप्रचलित गीतों, जैसे - खयाल, लावनी आदि की शैली में प्रकृति-चित्रण और देश-भक्ति से सम्बन्धित गीत लिखे । आधुनिक हिन्दी नवगीत का प्रारम्भ श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रेमघन और श्रीधर पाठक के ऐसे गीतों से ही माना जा सकता है ।

गीत विधा का स्वरूप अन्य विधाओं की तरह प्रत्येक युग में परिवर्तित होता रहा है । यह परिवर्तन सर्वदा नये ढंग के गीतों से ही प्रारम्भ होता है । वैदिक गीत-काव्य की पद्धति को छोड़कर थेर-थेरी गाथाओं तथा प्राकृत कविताओं में जो गीत-पद्धति प्रचलित हुई, वह तद्युगीन नवगीत-विधा थी । अतएव नवगीत की परम्परा भारतवर्ष में प्राचीन समय से ही वर्तमान रही है, भले ही उसे 'नवगीत' नाम नहीं दिया गया ।

कुछ समीक्षक यह समझते हैं कि 'नवगीत' नयी कविता के ढंग पर गढ़ा हुआ शब्द है । यह सर्वविदित व स्पष्ट हो चुका है कि 'नयी कविता' अंग्रेजी के 'न्यू पोयट्री' का शब्दानुवाद है । तारसप्तकीय

प्रकाशनों के साथ प्रचलन में आने वाली नवीन काव्य-विधा 'प्रयोगवाद' के नाम से प्रस्तुत हुई । यह प्रयोगवाद शब्द भी अंग्रेजी के 'एक्सपेरिमेन्टलिज्म' शब्द का अनुवाद था । योरोप में बिम्बवादी (इमेजिस्ट) कवियों, यथा - एजरा पाउण्ड, कमिंग्ज आदि ने कविता के रूप (form) में परिवर्तन करके उसके नये-नये प्रयोग किये, जैसे - तुकों व लयों का परित्याग, छन्दों का त्याग कर गद्य की पंक्तियों को तोड़-मरोड़ कर लिखना जिसे 'फ्रीवर्स' कहा जाता था । इन्हीं प्रयोगों की प्रवृत्ति को सामान्यतः 'प्रयोगवाद' कहा गया । तीसरे दशक के दौरान अंग्रेजी में इस प्रवृत्ति का अधिक प्रचलन था । सुप्रसिद्ध कवि टी.एस. इलियट की रचनाओं में सिर्फ प्रयोग का ही नहीं अपितु कथ्य का भी चमत्कार स्पष्ट दिखाई पड़ता था । इलियट के पश्चात ही आडेन, स्पेण्डर, ईशरवुड आदि नये कवियों के साथ 'प्रगतिवाद' का आन्दोलन आरम्भ हुआ जिन्होने अपनी रचनाओं को 'न्यू पोयट्री' की संज्ञा से प्रस्तुत किया । हिन्दी साहित्य में 'नयी कविता' इसी अंग्रेजी शब्द 'न्यू पोयट्री' का अनुवाद है । यद्यपि अंग्रेजी में यह नाम चालीस के दशक में आया था, तथापि हिन्दी में यह नाम (नयी कविता) लगभग दस-पन्द्रह वर्षों के पश्चात प्रचलन में आया । किसी 'वाद' के इंग्लैण्ड से चलकर भारत तक पहुंचने में दस-पन्द्रह वर्षों का समय लगना स्वाभाविक ही था ।'[८] जिस प्रकार अंग्रेजी में 'एक्सपेरिमेन्टलिज्म' के बाद 'न्यू पोयट्री' आन्दलनों का सूत्रपात हुआ, ठीक उसी के अनुरूप हिन्दी में भी 'प्रयोगवाद' के बाद 'नयी कविता' आन्दलनों का प्रादुर्भाव हुआ । किन्तु योरोप में 'न्यू लिरिक' या 'न्यू सांग' का कोई वाद नहीं अविभूत हुआ, अतः 'नवगीत' को पश्चिम से आनेवाला वाद मानना बिल्कुल निराधार और अनुचित है । पाश्चात्य देशों में 'गीत' काव्य-क्षेत्र की नहीं, सांगीतिक क्षेत्र की वस्तु है जिसे 'सांग' कहा जाता है । अतएव 'नवगीत' अंग्रेजी के किसी काव्य-आन्दोलन या काव्य-प्रवृत्ति का अनुकरण नहीं है और न ही किसी अंग्रेजी शब्द का अनुवाद । निष्कर्षतः यह स्पष्ट है कि, ''नवगीत 'नयी कविता' की तरह पश्चिम से आयातित काव्य-प्रवृत्ति नहीं है, न तो वह हिन्दी की नयी कविता के वजन पर गढ़ा हुआ शब्द है। नयी कविता के प्रारम्भ से बहुत पहले ही नये ढंग के गीतों की रचना प्रारम्भ हो गई थी, उसका नामकरण 'नवगीत' भले ही बाद में हुआ ।''(९)

वस्तुतः 'नवगीत' भारतेन्दु युग से चली आ रही उस गीत परम्परा का नाम है जो प्रारम्भ से ही लोक-जीवन से सम्पृक्त थी और युगीन बोध से उत्तरोत्तर परिपुष्ट होती रही । छायावाद में भक्तिकालीन पद-गीतों का स्थान स्वच्छन्दतावादी गीत शैली ने ले लिया जो अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों- वर्डसवर्थ, शेली, कीट्स, बायरन आदि के गीतों से अनुप्रेरित थी । इस शैली के गीतों का लोक-जीवन की वास्तविक स्थितियों से किसी तरह का सरोकार नहीं था । छायावादी गीत बुद्धिजीवी वर्ग या बहुपठित समाज की मानसिकता वाले तथा भारतीय पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों से प्रभावित शिष्टवर्गीय रचनाकारों की देन थे । अतः नवीनता से परिपूर्ण होते हुए भी उन्हें नवगीत नहीं कहा जा सकता था । क्योंकि वे साधारण जनता के दुःख-दर्द और हर्षोल्लास से असम्पृक्त तथा लोकजीवन एवम् समाज की युगीन समस्याओं से अप्रभावित थे । किसी भी कालखण्ड में उसी गीत-धारा को 'नवगीत' संज्ञा दी जा सकती है जो जन-सामान्य के जीवन की ठोस ज़मीन से अनवरत जुड़ी हुई हों । छायावाद के प्रारम्भ के साथ गीत काव्य का नवोन्मेष अवश्य हुआ पर छायावादी काव्य में आध्यात्मिकता, आदर्शवाद और कल्पना की अतिशयता का इतना आधिक्य था कि वह जनसामान्य के मस्तिष्क को आकर्षित नहीं कर सका ।

वास्तव में छायावाद का कथ्य और शिल्प दोनो ही विशिष्ट वर्ग (एलीट) की जीवन-अनुभूतियों और चिन्ता-धारा से सम्बद्ध थे । इस कारण छायावादी गीतों में नवगीत की कोई भी विशिष्टता वर्तमान नहीं थी । निम्नमध्यवर्गीय एवम् निम्नवर्गीय शिक्षित समाज के लिए छायावादी काव्य एक अबूझ पहेली की तरह था ।

द्विवेदीयुगीन काव्य रीतिकालीन काव्य की तुलना में अपने सामाजिक बोध और लोकमानस में व्यवहृत भाषा - 'खड़ी बोली' के कारण नवता और ताज़गी से युक्त था, किन्तु वह निबन्धात्मक और इतिवृत्तात्मक था । उसमें गीत-विधा जैसी भावात्मकता और आत्माभिव्यंजकता नहीं थी । इस कारण उस युग में नवगीत-विकास के लिए कोई अवसर ही नहीं था । द्विवेदी युग में हिन्दी कविता रीतिकालीन रूढ़ियों को तोड़कर सामान्य जनजीवन की जिन समस्याओं की ओर उन्मुख हुई थी, उन्हें छायावादी रचनाकारों ने सर्वथा त्याग दिया । छायावादी आलोचकों ने इसी को 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' कहा । फिर भी छायावादी काव्य में रीतिकालीन ब्रजभाषा-काव्य एवम् द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक काव्य की तुलना में जो नव्यता एवम् ताज़गी थी, उसके कारण छायावादी गीतों की एक सशक्त धारा प्रवाहित हो चली जो सन् १८२० के आसपास से लेकर लगभग सन् १८४० ई. तक हिन्दी काव्य की प्रमुख धारा के रूप में विद्यमान थी । इन दोनों दशकों के दौरान छायावादी गीत का कथ्य और शिल्प घिस-पिट कर इतना बासी और उबाऊ हो गया कि उसकी नैसर्गिक नवीनता और ताज़गी बिल्कुल लुप्त हो गई । छायावादी काव्य के चार शिखर कवियों - प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी ने हिन्दी काव्य को भक्तिकालीन कवियों की रचनाओं के समकक्ष पहुंचा दिया । फर्क इतना ही था कि भक्ति कालीन काव्य आम आदमी से सीधा जुड़ा हुआ था, जबकि छायावादी काव्य संस्कृत की अलंकृत रचनाओं की तरह केवल विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित रह गया । परिणामतः छायावाद के दूसरे चरण में नये और युवा कवियों के सामने छायावाद के कथ्य और शिल्प से विद्रोह करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प ही नहीं था । नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, भगवती चरण वर्मा, अंचल, नेपाली आदि रचनाकारों ने ऐसे गीत लिखे जिनकी भाषा जनसामान्य के बोलचाल वाली भाषा के समीप थी । इन कवियों ने अतिशय कल्पनाशीलता और आदर्शवाद के स्थान पर व्यक्तिगत जीवन की वास्तविक स्थितियों, वैयक्तिक आशा-निराशा और वेदना तथा स्थूल सौन्दर्य की अनुभूति और प्रणय-भावनाओं को गीतों के माध्यम से अभिव्यक्ति देना प्रारम्भ किया । इस प्रकार यह उत्तर-छायावादी गीत छायावादी गीतों की तुलना में नवीनता और ताज़गी से युक्त था । कदाचिद् इसी कारण यह मध्यवर्गीय शिक्षित समाज में युवा वर्ग के बीच अधिक लोकप्रिय हुआ । इस व्यक्तिवादी-स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा के समानान्तर पाश्चात्य साहित्य में प्रादुर्भूत प्रगतिवाद एवम् प्रयोवाद की प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर हिन्दी काव्य में भी प्रगतिवाद और प्रयोगावाद की नवीन काव्य-धाराएं प्रवाहित हो चलीं । साथ ही भारतीय राष्ट्रीय चेतना एवम् स्वतंत्रता संग्राम की प्रेरणा से राष्ट्रीय काव्य की एक तीव्र धार फूट पड़ी जिसे पंडित माखन लाल चतुर्वेदी, सोहनलाल द्विवेदी, रामधारी सिंह 'दिनकर', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि ने गतिशीलता प्रदान की । इस तरह व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और राष्ट्रीयतावाद की नवीन प्रवृत्तियों के विकास और प्रसार के कारण छायावादी काव्य-धारा का प्रवाह क्षीण होता गया और सन् १९४० के बाद उसकी गति अत्यन्त शिथिल हो गई । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात राष्ट्रीयतावादी गीत-काव्य की ऊर्जा प्रायः

समाप्त-सी हो गई । राजनीतिक प्रभाव के कारण प्रगतिवादी गीतों की रचना भी अवरुद्ध हो गई । प्रयोगवादी काव्य भी मुक्त छन्द की प्रवृत्ति के कारण गीत-काव्य का विरोधी था अतएव वह भी धीरे-धीरे हिन्दी-साहित्य की दृष्टि-पटल से ओझल हो गया । इस प्रकार छायावादोत्तर युग के आरम्भिक दशक में व्यक्तिवादी-स्वच्छन्दतावादी गीत-धारा हिन्दी-काव्य की प्रमुख धारा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया । लेकिन शीघ्र ही यह भी अपनी ओछी भावुकता और रोमानी मनोवृत्तियों के कारण इतनी सतही और बाजारू हो गई कि गम्भीर चेतना वाले पाठकों का मन उसके प्रति खिन्न होने लगा । अन्ततः व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावादी गीत-धारा में मनोविनोद और लिजलिजी भावुकता की प्रधानता हो जाने की वजह से इसकी साहित्यिक गरिमा समाप्त हो गई । वर्तमान नवगीत के सन्दर्भ में यही व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावादी गीत-धारा 'पारम्परिक गीत-धारा' के नाम से जानी जाती है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात यह पारम्परिक गीत-धारा उत्तरोत्तर ह्रासशील होकर कवि-सम्मेलनी मंचों की परिधि में सीमित होकर रह गई ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आरम्भिक दशक में सभी छायावादोत्तर काव्य-प्रवृत्तियों का मूल्यांकन व संश्लेषण किया गया और प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, व्यक्तिवादी-स्वच्छन्दतावाद आदि विभिन्न खेमों में विभाजित प्रबुद्ध रचनाकार एक मंच पर एकत्रित हुए । यहां उन्होंने एक नवीन काव्य-धारा के प्रादुर्भाव की उद्घोषणा की जिसे 'नयी कविता' नाम दिया गया । इस नयी काव्य-धारा में मुक्त छन्द एवम् छन्दमुक्त शैली में लिखी गई रचनाएं और छन्दोबद्ध गीत, प्रगीत, चतुर्दशपदी आदि को शामिल किया गया था । इस 'नयी कविता' की उद्घोषणा भले ही सन् १९५० के आस-पास किया गया हो किन्तु इसका प्रारम्भ छायावाद के दौरान ही सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' द्वारा हो चुका था । सन् १९३५ मे निराला ने 'मुक्त छन्द' में 'वह तोड़ती पत्थर' शीर्षक कविता लिखी जो 'नयी कविता' की प्रकृति से युक्त है । 'बेला' और 'नये पत्ते' शीर्षक काव्य संकलनों में उनकी 'मुक्त छन्द'वाली और छन्दोबद्ध कई रचनाएं 'नयी कविता' की सीमा स्वीकार करती दिखाई पड़ती हैं ।

आधुनिक काल में छायावादोत्तर गीति काव्य से लेकर 'नयी कविता' तक गीत-धारा यद्यपि चलायमान रही किन्तु नयी कविता तक आते-आते वह मानो दलदल में फंस गई और संदेह व्यक्त किया जाने लगा कि कहीं वह खत्म तो नहीं हो गई; लेकिन ऐसा हुआ नहीं, और हो भी नहीं सकता । मानवीय रिश्तों की लालसा लोक-जीवन की स्पृहा को कदाचिद् तब तक नहीं त्याग सकेगी जब तक मनुष्य-जीवन की अखण्डता में हमारा विश्वास बना रहेगा । छायावादी गीतों में व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख के अतिरिक्त राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की आकांक्षा और भारतीय पुनर्जागरण का गम्भीर स्वर भी स्पष्ट सुनायी पड़ता है । शिल्प के स्तर पर भी ये गीत परम्परागत गीत-धारा में प्रतिनिधि कड़ी बनकर नये तेवर लिये हुए थे, अर्थात्, इन गीतों में पूर्ववर्ती गीतों की अपेक्षा सब कुछ नया था, पर उस समय इन्हें 'नवगीत' की संज्ञा से अभिहित नहीं किया गया । इन्हें आधुनिक गीत ही कहा जाता था । साधारणतः 'नयी कविता' के ही समानान्तर 'नवगीत' का बीज-वपन भी हुआ । नयी कविता और नवगीत में विशेष अन्तर यह है कि 'नयी कविता' युगीन-यथार्थ को मुक्त छन्दों में देखती है और नवगीत उसे लयात्मक बोध देता है । यही आकर पारम्परिक गीत-विधा मंजित होती है और नवगीत के माध्यम से मानवीय रिश्तों को व्यापक आयामों से जोड़ती है । गीतों की इस बृहत्तर भूमिका का प्रारम्भ यद्यपि निराला के गीतों से हुआ किन्तु उसका विकास सन् १९५० ई. के बाद की गणतन्त्रीय चेतना के दौरान

ही हुआ । प्रगतिवाद का उथलापन और प्रयोगवाद का प्रयोगाधिक्य बरसात के पानी की तरह बह गया और धीरे-धीरे नवगीत में मिट्टी की सौंधी-सौंधी खुशबू अपने नैसर्गिक रूप में महकने लगी । नवगीत के बिम्बों, प्रतीकों, छन्दों, उपमानों एवम् उसके कलात्मक उपादानों में व्यक्तिवादी स्वर लुप्त होने लगा और वास्तविकता का एक नूतन तेवर उभरने लगा - यही 'नवगीत' है । नवगीत अपने आप में एक निरपेक्ष सृष्टि न रहकर सापेक्षता का हलफनामा लेती हुई दिखाई पड़ती है । यह व्यक्तिवादी पीड़ाओं से हटकर लोक-जीवन की धुनों, रागों, रागिनियों, समस्याओं, महानगरीय संत्रासों, मानवीय सम्बन्धों व राजनीतिक सन्दर्भों आदि को चित्रांकित करती हुई स्वयं को पारम्परिक गीत-धारा से पृथक कर लेती है ।

सुयोग्य एवम् प्रतिभासम्पन्न कलाकार या रचनाकार अपनी नवोन्मेषशालिनी ऊर्जा, कालबोध, इतिहास दृष्टि, सांस्कृतिक समझ और समसामयिक यथार्थ की गहरी सूझ के बल पर अपनी रचना में भविष्यगत रचनाओं के सुन्दर छायाभाष देता है जिसके आधार पर कालान्तर में स्पष्ट आकृति उभरती है, विशिष्ट आकार पाती है । कदाचिद् इसी कारण 'कालजयी' विशेषण ऐसे ही रचनाकारों के लिए प्रयुक्त भी होता है । महाप्राण 'निराला' के अधिकांश गीतों में वह अन्तर्वस्तु और तेवर विद्यमान हैं जो भविष्य में 'नवगीत' की सार्थक पृष्ठभूमि बनते हैं । सामान्यतः स्वातंत्र्योत्तर काव्य की दोनों काव्य-प्रवृत्तियों 'नयी कविता' और 'नवगीत' के प्रथम उन्नायक महाकवि निराला ही को माना जाय तो अनुचित न होगा। वरिष्ठ नवगीतकार और समीक्षक डॉ. शम्भुनाथ सिंह ने 'निराला' की 'मातृ-वन्दना (१८२०)' और शेष (१८२१)' आदि रचनाओं में नवगीत के आरम्भिक झलक की चर्चा की है, किन्तु वह ये भी मानते हैं कि छायावादी भाषा, तटस्थ जीवन-दृष्टि तथा आध्यात्मिक संस्पर्श के कारण ये रचनाएं विशुद्ध रूप से नवगीत की परिधि में नहीं आ सकीं । शुद्ध लौकिक, मानवीय अनुभूति से सम्पन्न, आम बोलचाल की भाषा में जीवन के यथार्थ को रेखांकित करने वाले गीत ही नवगीत के निकट माने गये । ऐसे गीतों का आरम्भ 'बेला (१८४३)' संग्रह से माना गया है । 'पांच जोड़ बांसुरी' के संकलनकर्ता चन्द्रदेव सिंह ने भी नवगीत का आरम्भ निराला के 'बांधो न नाव इस ठांव बन्धु' तथा 'आज मन पावन हुआ है' (१८५०-५२ ई.) गीतों से माना है । निराला के बाद वाले संग्रहों में जो नये ढंग के गीत हैं उनमें शुद्ध लौकिक और मानवीय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है । इस तरह के सर्वाधिक गीत उनके गीत-संग्रह 'बेला' में उपस्थित हैं । बेला का यह गीत अजनवीपन की भावना की अभिव्यक्ति करने के कारण आधुनिक अस्तित्ववादी प्रवृत्ति का परिचायक है -

> **''बाहर मैं कर दिया गया हूँ !**
> **भीतर पर भर दिया गया हूँ !**
> **ऊपर वह बर्फ गली है,**
> **नीचे यह नदी चली है,**
> **सख्त तने पर नर्म कली है ।**
> **इसी तरह हर दिया गया हूँ ।''**[१०]

'बेला' के कुछ गीतों में सहज और मोहक दृश्यों का चित्रण किया गया है तो कुछ में सामाजिक अव्यवस्था और वैषम्य पर गहरा व्यंग्य है । निराला के गीतों में समकालीन यथार्थ की तीखी आंच

का स्पष्ट एहसास होता है -

"वेश-रूखे, अधर सूखे,
पेट भूखे आज आये ।
हीन जीवन, दीन चितवन,
क्षीण आलम्बन बनाये ।"[११]

'बेला' के इस गीत में कवि के तीव्र मानसिक आवेग एवं दीन-दुखियों के प्रति हार्दिक सहानुभूति का स्वर सुनायी पड़ता है । 'अणिमा' में संग्रहीत 'गहन है यह अन्धकारा' में निराला का मन तीव्र आघात सहता हुआ तरह-तरह के स्वर सुनता है और विविध द्रश्यों के दर्शन करता है -

"गहन है यह अन्धकारा
स्वार्थ के अवगुण्ठनों से
हुआ है लुण्ठन हमारा ।
खड़ी है दीवार जड़ की घेर कर
बोलते हैं लोग ज्यों मुंह फेर कर
इस घर में नहीं दिनकर,
नहीं शशधर, नहीं तारा ।"[१२]

निराला के गीतों का भाव-फलक बहुआयामी और विस्तृत है । उनके गीतों में संघर्षरत जन सामान्य की धड़कनें ध्वनित हैं । उनकी सर्जना के उत्स में अवधी और ब्रज का लोक जीवन भी है जिससे उनके गीत एक विशेष भावभूमि की अपेक्षा लिये जन-सामान्य की विचार-भूमि के संवाहक बने । उनके गीत जटिल होते जा रहे जीवन की गहन अनुभूति धारण किये सुख-दुःख, राग-विराग, अभाव, वैषम्य, शोषण, पीड़ा, हार-जीत, सामाजिक विसंगति, मानव-मन का अन्तर्विरोध आदि विविध आयामों सहित समकालीन समय-बोध के अधिकाधिक सम्पृक्त होने के कारण पारम्परिक गीत में एक नवीन प्रयोग करते मिले । किन्तु 'अपनी ध्वनि', 'अभी न होगा मेरा अन्त', (१९२४), 'आये घन पावस के (१९२८)', 'रूखी री यह डाल' (१९३२), तथा 'दलित जन पर करो करुणा' (१९३८) आदि गीत भी, जो ठीक छायावादी कालावधि में लिखे गये । हिन्दी काव्य-प्रासाद में 'नवगीत' की साफ-साफ दस्तक देते हैं । तीसरे और चौथे दशक में लिखे गये निराला के ये गीत कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तरों पर पारम्परिक गीत से बिल्कुल भिन्न थे । इस प्रकार नवगीत के प्रभात की लालिमा निराला के पांचवें दशक से पूर्व प्रकाशित छायावादी गीतों में ही विद्यमान थी । स्वयं डा. शम्भुनाथसिंह का मानना है कि, "यदि परम्परागत भाषा, घिसे-पिटे छन्दों और भावों के प्रति विद्रोह करके आम जनता की भाषा में बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से यथार्थ जीवन की कटु एवं तिक्त अनुभूतियों और विविध मानवीय दशाओं को नवगीत की मौलिक विशेषता मान लिया जाय तो नवगीत का प्रारम्भ सन् १९२०-२१ में ही हो गया था, जब निराला के गीत-'मातृवन्दना' और 'शेष' प्रकाशित हुए थे।"[१३]

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने लगभग दो सौ ऐसी कविताएं लिखी हैं जो विशुद्ध गीत हैं ।

इनमें से कुछ गीत ऐसे भी हैं जो छायावादी भाषा-शैली और भाव-बोध से भिन्न स्तर के हैं जिन्हें सहज ही 'नवगीत' संज्ञा दी जा सकती है । ये गीत अपने समय के अथवा पूर्व परम्परा से प्राप्त गीत-शिल्प से भिन्न प्रकृति के कारण ही 'नवगीत' हैं । फिर भी वे आधुनिक नवगीतों की समस्त विशिष्टताओं से युक्त नहीं है । निराला के उन गीतों में वर्तमान द्वारा अपेक्षित नवीनता नहीं है । निराला की जन-सामान्योन्मुख गीतात्मक रचनायें नवगीत की विधायक शक्ति हैं । उन्होंने जनसाधारण को उसके परिवेश, संघर्ष, चुनौतियों, विवशताओं और जिजीविषा को जितनी बहुविध और बहुरूपात्मक दिशाओं में प्रस्तुत किया है और भावानुकूल नवीनतम छन्दों की सृष्टि की है, उसके कारण निराला समकालीन गीत-सर्जकों से आगे निकलकर छायावादोत्तर गीत-विधा के सर्वमान्य रचनाकार 'बच्चन' के लिए भी चुनौती बनकर सामने आ गये, जिनके गीत एक सुनिश्चित लय एवम् आरोह-अवरोह लियें होते हैं ।

सुमित्रानन्दन 'पन्त' के छायावादोत्तर गीतों, विशेषकर 'ग्राम्या' (१९४०) के गीतों के वस्तु और शिल्प में बदलाव दिखायी दिया । इसी बदलाव को उद्घाटित करने के उद्देश्य से उनके तीन गीत 'पांच जोड़ बांसुरी' में संकलित किये गये थे । पंत के ये तीनों गीत और 'ग्राम्या' के अधिकांश गीत विशुद्ध प्रकृतिचित्र हैं या फिर उद्दाम श्रृंगार की अभिव्यक्ति हैं । भाषा के स्तर पर तो पन्त शायद चाहकर भी सहज नहीं हो सकते थे । ग्रामीण परिवेश के चित्रांकन में भी उनकी भाषा, भाव एवम् संवेदना की सीमाएं हैं ।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी स्वर्गीय सौन्दर्य, इन्द्रजाल अभिराम-सा रहस्यलोक और प्रणय के कुहुकजाल को बेधकर छायावादी भौतिक अथवा सांसारिक जीवन के नग्न सत्य, कड़वाहट, अनुभूति, विसंगति और विद्रूपता को तीक्ष्ण शब्दों में अपने गीतों के माध्यम से व्यक्त किया । इन गीतों का वैशिष्ट्य सामान्य बोलचाल की भाषा में लोक-सत्य को अभिव्यक्ति देना है । इनकी सहज एवं सरल शैली, लोक-सन्दर्भ, लोक-जीवन की गहरी हिस्सेदारी सहृदय पाठक के साथ अनौपचारिक आत्मीय संवाद से विशेष सम्बन्ध स्थापित करती है । लोक-सन्दर्भों की यह पकड़ लोक-जीवन के साथ गहरी तादात्म्यता के कारण बनती है । 'मछली-मछली कितना पानी' (१९२५), 'आज सुना है सखी, हमारे साजन लेंगे जोग री' (१९३६), 'डोला लिये चलो' तथा 'हम अनिकेतन' आदि गीत इसी कोटि के हैं ।

छायावाद के एक प्रमुख कवि माखनलाल चतुर्वेदी ने भी गीत-विधा में नये प्रयोग किये । लोक-रंग की सर्वप्रमुख पहचान पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के छायावादोत्तर गीत-काव्य में प्राप्त होती है । इनके गीतों में भारतीय आंचलिक लोक-संवेदना, स्वानुभूत सत्य के रूप में दृष्टिगोचर होती है । इनके यहां भारतीय अंचल का यथार्थ बोध, लोक-धुन, आंचलिक शब्दावली और लोक-प्रचलित पद-बन्धों तथा वाक्य-विन्यासों में पर्याप्त रसमयता, लचक और आत्मीयता की समायोजना मिलती है । यह 'भारतीयता' नवगीत की प्रमुख अभिव्यक्ति है । इनके अधिकांश गीतों की अन्तश्चेतना लोक-भूमि के यथार्थ से जुड़ी हैं । वे शुद्ध प्रकृति या मानवीय सौन्दर्य-गीत मात्र नहीं हैं, इनकी गीत-गंगा में आध्यात्मिक प्रतीकों का जल लहरा रहा है किन्तु ये आध्यात्मिक प्रतीक और चरित नायक सम-सामयिक हालात के भोक्ता और कर्मी हैं । गीत की आध्यात्मिक शब्दावली के आवरण में जन-जीवन का यथार्थ विद्युत की भांति कौंधता हुआ सहृदय पाठकों में गहनता से संचरित हो जाता है । नवगीत की ध्वन्यात्मकता और आंचलिक शब्दावली की योजना पंडित माखन लाल चतुर्वेदी के गीतों में पहले ही विद्यमान है । उनकी रचनाओं

में कइयों गीत ऐसे हैं जिनमें 'नवगीत' का पूर्वाभाष मिलता है -

'जग आये घनश्याम देख तो
देख गगन पर आगी
तूने बूंद, नींद खेतिहर ने
साथ-साथ ही त्यागी
रही कजलियों की कोमलता
झंझा को वर री
बदरिया थम-थम कर झर री ।'[१४]

यहां वर्षा गीत के प्रकृति-चित्र में जनसामान्य के जीवन में प्रतिभाषित कौंध अभिव्यंजित हुई है । मनमोहक बेला में खेतिहर के नींद त्याग एवम् कजलियों के माध्यम से झंझा को वरने की व्यंजना अद्भुत है । पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के अधिकांश गीतों की अन्तश्चेतना लोक-जीवन की सच्चाइयों से जुड़ी हुई हैं । 'संपूरन के संग अपूरन झूला झूले री' (१९५०), 'सिर पर पाग आग हाथों में' (१९५७), 'बिजुरी काजल आंज रही' (१९५७), 'वेणु लो गूंजे धरा' (१९५९), 'तुम न हुए घर मेरे' (१९५८), 'मानस के पंछी' तथा 'अंधियारे के उजियाले से' (१९५९) आदि गीत नवगीत के वस्तु-तत्व के बहुत समीप प्रतीत होते हैं । निराला, नवीन और माखन लाल चतुर्वेदी के गीतों के सन्दर्भ में समीक्षक डा. सत्येन्द्र शर्मा लिखते हैं - "नवीन, निराला और पंडित माखन लाल चतुर्वेदी अपनी जमीन से कितने गहरे जुड़े थे और यह भी कि तत्कालीन समय और समाज की धड़कनें इनकी रचनाओं में कितनी स्पष्ट सुनी जा सकती हैं, यह मात्र संयोग ही नहीं है कि नवगीत की आरम्भिक पहचान भी धरातल से जुड़े इन्हीं रचनाकारों के यहां सुनायी देती है ।"[१५]

गीत को लेकर सर्वाधिक नित्य-नूतन प्रयोग करने वाले गीतकारों में निराला के बाद 'बच्चन' हैं । उनकी संवेदना और भाव-धारा एक-सी है, किन्तु शिल्प निरन्तर नवीनता लेकर समाविष्ट हुए हैं। भाषा की दृष्टि से गीत को जन-साधारण के उपयुक्त बनाने का महत्वपूर्ण और श्रेयस्कर कार्य उन्होंने किया है । किन्तु लोक-धुनों पर आधारित उनके गीतों में जन-जीवन अथवा लोक-सत्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति न हो सकी । लोक-जीवन के सन्दर्भ में उनकी दृष्टि का विस्तार लोक-उत्सवों में गाये जाने वाले गीतों की लय और शब्दावली तक सीमित है ।

अन्य छायावादोत्तर गीतकारों में, जिनकी गीत-रचनाएं पारम्परित गीतों से भिन्न हैं और जिनके कुछ गीतों में नवगीत की हल्की अनुगूंज सुनायी पड़ती है, उनमें नरेन्द्र शर्मा, भगवती चरण वर्मा तथा अंचल आदि मुख्य हैं, इनके गीतों में लोकजीवन के वे दृश्य नहीं दिखायी पड़ते जो नवगीत हेतु अभीष्ट हैं ।

हम देखते हैं कि छायावाद के उत्तरार्द्ध में उसके अन्तर्विरोध ने विकट रूप धारण कर लिया था । छायावाद के विरोध में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावाद की यथार्थोन्मुख प्रवृत्तियों के बीज अंकुरित हो गये थे जिनके कारण छायावाद उत्तरोत्तर क्षीणता की ओर प्रवृत्त होता गया और १९४० ई. के आसपास तक इसे अन्ततः समाप्त घोषित कर दिया गया । छायावादोत्तर युग के प्रारम्भिक

दशक (१९४१-५०) में हिन्दी कविता के दो स्पष्ट विभाजन दिखायी पड़ने लगे - 'पारम्परिक छन्दोबद्ध कविता' एवम् परम्पराभंजक प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कविता । पारम्परिक छन्दोबद्ध कविता में गीतों की प्रधानता थी और परम्पराभंजक कविता में 'मुक्तछन्द' और 'छन्दमुक्त' रचनाओं का प्राधान्य था । किन्तु ये दोनों प्रकार की रचनाएं छायावाद की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुई थीं, जिनमें छायावादी आदर्शवाद और अतिशय कल्पनाशीलता के स्थानपर यथार्थ जीवन की वैयक्तिक अथवा सामाजिक समस्याओं और अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया गया था । अतः प्रतिक्रियाजन्य होने के कारण उनमें यथार्थता की आवश्यक अभिव्यक्ति तो थी लेकिन काव्यत्व का अभाव था । वे अधिकतर परम्पराभंजन और सामाजिक विद्रोह के पक्ष में दिये गये वक्तव्य या भाषण की भावुकता की अभिव्यक्ति मात्र थीं । उन्होंने छायावाद के विरुद्ध विद्रोह तो किया पर स्वयं छायावादी काव्य की उंचाई तक नहीं पहुंच सके । इस तरह बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, अंचल आदि व्यक्तिवादी-स्वच्छन्दतावादी कवियों ने जिन गीतों की रचना की, वे नितान्त वैयक्तिक, अभिधात्मक, वर्णनात्मक तथा गाम्भीर्यविहीन होने के कारण छायावादी गीतों की अपेक्षा महत्वहीन थे । वैसे ही छन्दोबद्ध और मुक्तछन्द शैली में रचित प्रगतिवादी कविताएं भी तार्किक व्याख्यान, बौद्धिक व्यायाम तथा राजनीति प्रेरित वाद-विवाद मात्र थीं। सुमित्रानन्दन 'पन्त', नरेन्द्र शर्मा, राम विलास शर्मा, नेमिचन्द जैन, भारत भूषण अग्रवाल, नागार्जुन, शिवमंगल सिंह 'सुमन' आदि मार्क्सवाद से प्रभावित कवियों की रचनाएं इसी प्रकार की थीं । इन प्रगतिवादी कवियों ने जिन गीतों की रचना की थीं, वे शिल्प की दृष्टि से तो पारम्परिक ही थीं किन्तु उनका कथ्य समाजवादी यथार्थवाद अथवा मार्क्सवादी सिद्धान्तों से प्रभावित था ।

नयी कविता में परम्पराभंजन और प्रयोग के नाम पर छायावाद और प्रयोगवाद के दौर में प्रयुक्त मुक्त छन्द को भी कविता का बन्धन माना जाने लगा और उसकी जगह छन्दमुक्त गद्य की लयात्मक रचनाएं की जाने लगीं । "नयी कविता के समर्थक समीक्षकों ने यह स्थापना की कि, इन छन्दमुक्त रचनाओं में छान्दसिक लय नहीं है, अर्थ की लय है । 'अर्थ की लय' से उनका चाहे जो भी तात्पर्य रहा हो, किन्तु इस 'अर्थ की लय' ने बहुत अधिक अनर्थ किया । उसने प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में कवि बनने का एक आसान नुस्खा थमा दिया ।"[१६]

ऐसे ही तथाकथित कवि छन्दोबद्ध कविता, विशेषकर गीत-विधा को पिछड़ेपन की निशानी मानकर उसकी अवमानना करने लगे । इन्हीं लोगों के शोरगुल के बीच एक ओर तो अज्ञेय के हाथ से नयी कविता के नेतृत्व की बागडोर छूट गई, दूसरी ओर नयी कविता के गीतों को नयी कविता के शिविर से निष्कासित कर दिया गया । "नयी कविता की इस बाढ़ में सन् १९६० से १९८० ई. तक इतनी मिट्टी जमा हो गई कि जिसे साफ करना किसी भी समीक्षक के बूते की बात नहीं रह गई । उत्तरोत्तर जमा होती गई इस मिट्टी ने नयी कविता की धारा को उथला बनाकर उसे अनेक उपधाराओं में बांट दिया, जिनके अलग-अलग नाम अवश्य पड़े किन्तु किसी की निजी पहचान कुछ भी नहीं थी । दूसरी ओर उस मिट्टी ने 'नवगीत' के लिए उर्वर भूमि का काम किया ।"[१७]

प्रयोगवादी रचनाकार पूर्णतः परम्पराभंजक थे, इसी कारण उन्होंने गीत को पारम्परिक काव्य-विधा मानकर उसका सर्वथा बहिष्कार किया और केवल मुक्त छन्द की कविताएं लिखते रहे, लेकिन कुछ कवि पारम्परिक शैली में ही राष्ट्रीय भावनाओं से युक्त गीतों की रचना करते रहे । इस श्रृंखला के

कवियों में रामधारी सिंह 'दिनकर', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सोहन लाल द्विवेदी तथा माखन लाल चतुर्वेदी के नाम उल्लेखनीय हैं ।

इस प्रकार छायावादोत्तर युग के प्रथम दशक में हिन्दी की गीत-विधा की मुद्रा पूर्णतः पारम्परिक थी और हिन्दी गीत के चार रूप प्रचलित हो चुके थे- छायावादी गीत, व्यक्तिवादी-स्वच्छन्दतावादी गीत, प्रगतिवादी गीत तथा राष्ट्रीय-प्रयोगवादी गीत । स्वातंत्र्योत्तर काल में छायावादी, प्रगतिवादी और राष्ट्रवादी (प्रयोगवादी)गीतों का प्रचलन लगभग समाप्त हो गया और 'व्यक्तिवादी-स्वच्छन्दतावादी' गीत परम्परा ह्रासशील होती हुई लिजलिजी भावुकता और यथार्थ से कटी हुई रूमानियत के धरातल पर पहुंचकर कवि-सम्मेलनी मंचों तक सीमित रह गई । प्रतिनिधि नवगीतकार एवं समीक्षक डा. शम्भुनाथ सिंह इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहते हैं - ''प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा तथा पन्त आदि छायावादी कवियों ने जिस गीत-विधा को उच्चता के शिखर तक पहुंचाया था, वहीं छायावादोत्तर व्यक्तिवादी-स्वच्छन्दतावादी कवियों के हाथों पड़कर यह गीत-विधा शिखर से नीचे ढलानों पर खिसक आयी और परवर्ती कवि-सम्मेलनी कवियों तथा अन्य नाना उपनामधारी छुटभैयों ने उसे तलहटी में घसीटकर बाजारू धरातल पर पहुंचा दिया । परिणामतः पिछले तीस वर्षों में पारम्परिक गीत कविसम्मेलनी मंचों पर सुगम संगीत, कव्वाली, ग़ज़ल, भजन आदि के स्तर पर पहुंचकर काव्य की सीमा से बाहर चला गया है ।''[१८] यहां तक आते-आते गीत परंपरा फिल्मी गीतों, गजलों और कव्वालों से भरपूर प्रभावित हो चुकी थी । स्वातन्त्र्योत्तर मंचीय गीतकारों में चन्द कवि ही ऐसे हैं जिन्होने पारम्परिक गीत को विनष्ट होने से बचाया और उसकी साहित्यिक मर्यादा को सुरक्षित रखा है । ऐसे गीतकारों में श्रीपाल सिंह 'क्षेम', वीरेन्द्र मिश्र, रमानाथ अवस्थी और भारत भूषण के नाम अग्रगण्य हैं । इस पारम्परिक गीत धारा में इतना बासीपन और वास्तविक जीवन की उष्मा का इतना अभाव था कि किसी भी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और आधुनिकता बोध वाले कवि का उसकी लीक पर चलना असंभव था । ऐसे ही परम्परा विरोधी गीतकारों ने सन् १९५० के पश्चात सहज रूप से गीत को पारम्परिक लीक से हटाकर नयी दिशा देने का प्रयत्न किया।

आरम्भ में नये प्रकार के गीतों की धारा मुक्त छन्द वाली 'नयी कविता' के आन्दोलन से पूर्णतः सम्पृक्त थी । अज्ञेय द्वारा सम्पादित सप्तकों में अज्ञेय, रामविलास शर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, केदारनाथ सिंह, कुंवर नारायण और विजयदेव नारायण साही के अनेक ऐसे गीत संकलित किये गये थे जो पारम्परिक गीत नहीं थे । सप्तकों से बाहर के कवियों में डा. शम्भुनाथ सिंह, केदारनाथ अग्रवाल, जगदीश गुप्त व ठाकुर प्रसाद सिंह के कई गीत नयी कवितावादी पत्रिकाओं - 'प्रतीक', 'निकष', 'नयी कविता', 'नये पत्ते', 'गीत', 'कविता', 'वातायन', 'लहर' आदि में प्रकाशित होते रहे । इस तरह यह स्पष्ट हो चुका है कि 'नवगीत' की रचना 'नयी कविता' के साथ ही प्रारम्भ हो चुकी थी, किन्तु उसे पृथक पहचान नहीं प्राप्त हो सकी थी ।

सन् १९५० ई. के बाद स्वतन्त्रता प्राप्ति के कारण राष्ट्र की बदली हुई मानसिकता के फलस्वरूप काव्य-क्षेत्र में भी कुछ नया कर गुजरने का दौर आरम्भ हुआ । देश की बदली हुई सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियौं तथा उत्तरोत्तर बढ़ते हुए वैज्ञानिक व औद्योगिक प्रभाव ने भी काव्य को नयी दिशा में मुड़कर अनुभूति के नये और अछूते आयामों को उद्घाटित करने के लिये विवश किया। परिणामतः छायावादोत्तर युग के दूसरे दशक (१९५०-६० ई.) में पुनः गुणात्मक परिवर्तन हुआ और हिन्दी

कविता विकास की तीसरी अवस्था में प्रविष्ट हुई जिसमें हिन्दी-कविता की विभिन्न धाराओं का पारस्परिक संश्लेषण हुआ और उनकी वादग्रस्त भूमिकाएं पर्याप्त सीमा तक समाप्त हो गईं । अब कविता का जो भी रूप सामने आया उसे 'नयी कविता' की संज्ञा दी गई । इसमें व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावाद, प्रयोगवाद और प्रगतिवाद की प्रवृत्तियाँ तो थीं, किन्तु उनकी पृथक पहचान प्रायः लुप्त हो चुकी थी । इन सभी धाराओं के प्रमुख नये कवि एक कविता-मंच पर एकत्र हुए और इस नवीन काव्य-धारा में सभी काव्य-विधाओं को निःसंकोच भाव से अपनाया गया । 'नयी कविता' के इसी मंच के तत्वाधान में इलाहाबाद से डा. जगदीश गुप्त के सम्पादन में 'नयी कविता' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका का भी प्रकाशन हुआ। इस पत्रिका में छन्दोबद्ध एवम् मुक्त छन्द की कविताएं, छन्दमुक्त गद्य की लयात्मक कविताएं तथा टेकयुक्त और पदबद्ध गीत भी प्रकाशित होते थे । किन्तु उस समय गीत-विधा को नयी कविता से अलग नहीं माना गया था ।

गणतन्त्रीय व्यवस्था के बाद रचनाकार स्वतन्त्र रूप से ज़मीन के अधिक नज़दीक आ चुका था और नये ढंग से उसकी हर धड़कन और समस्या को शब्द देने लगा था । जाहिर है, ऐसे में गीत के परम्परित विधान का विखण्डन अनिवार्य था । ऐसी व्यवस्था में गीत रागात्मक क्षणों का उच्छ्वास मात्र नहीं रह गया बल्कि जनसामान्य के जीवन से संलग्न होकर उसने अपने अन्दर थोड़ी बौद्धिकता, लोकधुनों तथा लोक-जीवन की धड़कनों को भी समाविष्ट किया । इस तरह उसका विषय अपनी सीमित परिधि को अचानक तोड़ने लगा था । यह गीत की नयी चेतना थी । यद्यपि इस नवचेतना की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम निराला के गीतों से हुई थी, उन्होंने पहले गीत के छन्द, राग और लय में बहुत कुछ तोड़ा, और नया जोड़ा भी था लेकिन बौद्धिक दुरूहता के कुहरे में गीत की यह नयी चेतना निरन्तरता नहीं पा सकी और सन् १९५० के बाद ही इसे पुनः मुखरित होने का अवसर मिल सका । यह नवीन गीतात्मक चेतना अपने वस्तु शिल्प एवम् दर्शन की दृष्टि से अपनी परम्परा से पर्याप्त भिन्न थी । पूर्ववर्ती पारम्परिक गीतों की तुलना में यह नया रूप अत्यधिक पृथक था । इस प्रकार 'नयी कविता' और नये गीत की संपृक्तता ज्यादा समय तक नहीं टिक सकी । यदि 'नयी कविता' में इतना बिखराव न आ गया होता तो शायद नवगीत को तीव्रता से विकसित होने का अवसर न मिला होता । सहृदय सामान्य साहित्य-प्रेमियों ने अपनी सहज बुद्धि एवम् काव्यतत्व के नैसर्गिक मानवीय बोध के आधार पर इस ह्रासोन्मुख 'नयी कविता' को कविता मानने से ही इनकार कर दिया । नयी कविता के आलोचकों द्वारा यह दलील दी जाती है कि वर्तमान समय में कविता श्रवण करने योग्य नहीं रह गई है । इसी कारण सामान्य पाठकों ने नयी कविता को पढ़ना लगभग छोड़ ही दिया है । यह छोटी-छोटी काव्य-गोष्ठियों और पुस्तकालयों के भीतर सिमट कर रह गई है । नयी कविता के प्रति इस नीरसता के कारण ही नवगीत को स्वतन्त्र काव्य-धारा का रूप ग्रहण कर व्यापक प्रसार पाने का अवसर प्राप्त हुआ ।

नयी कविता के अन्तर्गत सम्मिलित गीत-काव्य का रूप-शिल्प पूर्णतः बदला हुआ था, जिसे 'अज्ञेय' ने 'नयी कविता का गीत' कहा था । तदनन्तर इसी गीत के विकसित रूप को 'नवगीत' से सम्बोधित किया गया । इस सम्बन्ध में अनेक कवियों और आलोचकों ने अपनी अलग-अलग मान्यताएं दी हैं, किन्तु लगभग सभी ने यह अवश्य माना है कि इस नवीन गीतात्मक चेतना को 'गीत' नहीं कहा जाना चाहिए, क्योंकि कहीं-न-कहीं 'गीत' शब्द पारम्परिक चौखटे का आभाष देता है, और इस

कारण उसमें नवीनता का बोध नहीं हो पाता । अतः इस नूतनता-बोध के लिए गीत को नयी संज्ञाओं से अभिहित करने के प्रयास जोर-शोर से चल रहे थे । ''सियाराम शरण प्रसाद ने गीत के इस नये स्वर को 'आज का गीत' नाम दिया तो बाल स्वरूप राही और शलभ श्रीराम सिंह ने इसे 'नया गीत' कहा । ओमकार ठाकुर और गंगाप्रसाद विमल ने इसे 'आधुनिक गीत' कहना पसन्द किया किन्तु रामदरश मिश्र ने अपने एक निबन्ध में इसे 'नये गीत' नाम दिया ।''[१९] अन्ततः राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने इस नवीन गीत-विधा को एक नयी संज्ञा प्रदान की - नवगीत । 'गीतांगिनी' के सम्पादकीय में उन्होंने न सिर्फ इस शब्द का प्रयोग किया बल्कि अपने सहयोगियों के समवेत प्रयत्न से आधुनिकता के सन्दर्भ, बिम्ब और उसकी तात्विकता के आधार पर नवगीत का विवेचन-विश्लेषण भी किया । स्वयं राजेन्द्र प्रसाद सिंह के शब्दों में - ''गीतांगिनी के सहयोगियों ने आधुनिकतर गीत, बिम्ब गीत, तात्विक गीत आदि कुछ नामों का सुझाव दिया था किन्तु मैंने गीतों की संभावना को काल, प्रवृत्ति और शिल्प की एकान्तिक सीमा में बांधना चाहा था, तभी नवगीत की संज्ञा दी । नयी कविता के कवियों द्वारा प्रस्तुत गीत, पिछली पीढ़ियों के परवर्ती और ईषत् भिन्न गीत और छायावादोत्तर विवेक कल्प गीतकारों के नवयोजित गीत कोई श्रेणिक नाम नहीं पा सके थे । साथ ही नयी पीढ़ी के गीतकार भी अपने सहज नूतन गीतों के लिए ऐसे नाम खोज रहे थे । अन्ततः 'नवगीत' संज्ञा ही सर्वाधिक उचित प्रतीत हुई ।''[२०] तदनन्तर अपनी संक्षिप्तता एवम् अभिनवता के कारण 'नवगीत' सर्वमान्य और प्रचलित हो गया और १९५० के बाद लिखे जाने वाले गीतों को 'नवगीत' कहा जाने लगा । ''नवगीत एक सापेक्षिक शब्द है । नवगीत की नवीनता युग-सापेक्ष्य होती है । किसी भी युग में नवगीत-रचना हो सकती है । गीत-रचना की परम्परागत पद्धति और भाव-बोध को छोड़कर नवीन पद्धति और नवीन भाव-सरणियों को अभिव्यक्त करने वाले गीत जब भी और जिस युग में लिखे जाएंगे, 'नवगीत' कहलाएंगे'' ।[२१]

यह सर्वविदित है कि हर बदलते युग की रचना अपने समय में वर्तमान होती है, आधुनिक अथवा नयी होती है, किन्तु समय-परिवर्तन के साथ ही वह अपनी आन्तरिक और बाह्य लय को तोड़ती हुई पुनः 'आज की', 'आधुनिक' अथवा 'नयी' बन जाती है । जाहिर है कि ये शब्द परिस्थिति सापेक्ष्य एक विशेषण तो बन सकते हैं, अथवा इन्हें प्रक्रिया तो कहा जा सकता है, लेकिन संज्ञा अथवा मूल्य की परिधि में इन्हें बाध्य नहीं किया जा सकता ।

संदर्भ सूची :-

१. हिन्दी साहित्य कोष (सं. धीरेन्द्र वर्मा, भाग-१), पृष्ठ २२३

२. हिन्दी साहित्य कोष, भाग-१, पृष्ठ २२३

३. हिन्दी साहित्य कोष, भाग-१, पृष्ठ २२४

४. वही, पृष्ठ २२४

५. नवगीत दशक-भाग-१ (भूमिका) संस्करण ११

६. साहित्यिक निबन्ध, पृष्ठ ७०

७. श्रीमती ब्रजबाला चतुर्वेदी : ब्रजलोक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में ब्रजभाषा का तान साहित्य (शोध-प्रबन्ध), पृष्ठ ३८

८. डा. शम्भुनाथ सिंह : नवगीत अर्द्धशती (नवगीत की विकास-यात्रा), पृष्ठ ६

९. वही, पृष्ठ ७

१०. निराला : बेला

११. वही

१२. निराला : राग-विराग (सं. डा. राम विलास शर्मा), पृष्ठ १३०

१३. डा. शम्भुनाथ सिंह : नवगीत अर्द्धशती, पृष्ठ १०

१४. माखन लाल चतुर्वेदी रचनावली - ६ (सं. श्रीकान्त जोशी), पृष्ठ २७२

१५. डा. सत्येन्द्र शर्मा : नवगीत : संवेदना और शिल्प, पृष्ठ २२

१६. डा. शम्भुनाथ सिंह : नवगीत दशक-१ (भूमिका)

१७. डा. शम्भुनाथ सिंह : नवगीत दशक-१ (भूमिका)

१८. डा. शम्भुनाथ सिंह : नवगीत दशक-१ (भूमिका)

१९. डा. सुरेश गौतम : नवगीत-इतिहास और उपलब्धि, पृष्ठ १८

२०. राजेन्द्र प्रसाद सिंह

२१. वही

द्वितीय अध्याय